क्योंकि
मै उसे जानता हूँ



क्योंकि मैं उसे जानता हूँ

[कविताएँ १९६५-६८]

'अज्ञेय'

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक–२८२
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन



Lokodaya Series Title No 282

KYONKI MAIN USE JANTA HOON

(Poems)

Ajneya

Bharatiya Jnanpith Publication

First Edition 1970

Price Rs 5 00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९ अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता २७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी-५

विक्रय कार्यालय

३६२०।२१ नेता जी सुभाष मार्ग दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९७०

मूल्य ५ ००

सन्मति मुद्रणालय
वाराणसी–५

क्रम



० ० ०

क्योंकि
मैं
उसे
जानता
हूँ
•

Dann Konnte ich in einem tausendfachen
Gedanken bis an deinen Rand dich denken
und dich besitzen (nur ein Lacheln lang)
um dich an alles Leben zu verschenken
wie einen dank.

—*रेनर मारिया रिल्के*

[तब सहस्रधा चिन्तन में मैं तुम्हें सोच सकता
पूरा तुम्हारे अंतिम छोर तक
और तुम्हें पकड़ सकता (एक मुसकान की अवधि भर)
और तुम्हें दे देता, धन्यवाद की तरह
उन सब को, जो जीते हैं ।]

होते हैं क्षण

होते हैं क्षण जो देश-काल मुक्त हो जाते हैं।
होते हैं पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं?
या क्या हम लाते हैं?
उन का होना, जीना, भोगा जाना
है स्वैर सिद्ध, सब स्वत पूत।
—हम इसी लिए तो गाते हैं।

हर शाख म उस का स्वर भरा है
उसी का तार मेरी हर शिरा है,
वही मेरे रोम रोम ने सुना है,
सुना है, सुना है, सुना है

मोईनुद्दीन डागर स्मृति संगीत समारोह २१ ३ ६८

तं तु देश न पश्यामि

देश देश मे बंधु होगे
पर बहुएँ नही होगी
(राम की साखी के बावजूद),
किसी देश मे बहू मिल जायेगी
जहा बंधु कोई नही होगा ।

किसी की जगह
कोई नही लेता
यह तक भी
दशन की जगह नही लेगा,
क्यो नही मैं ही
अपनी जगह दूसरा
व्यक्तित्व खोज लेता ?

एक दिन

एक दिन
अजनबियों के बीच
एक अजनबी आ कर
मुझे साथ ले जायेगा।
—जिन अजनबियों के बीच
मैंने जीवन भर बिताया है,
जिस अजनबी से
मेरी बड़ी पुरानी पहचान है।

कौन है, क्या है वह, कहां से आया है
जो ऐसे में मुझ रखता है
परिचिति के घेरे में आलोक से विभोर?
जिस के ही साथ मैं चलता हूँ
जिस की ही ओर?
जिस का ही आश्रित, मानो जिस की सन्तान?

उसी परिचिति के घेरे में
तुम्हें आमन्त्रित करता हूँ,
डरता हूँ
आओगे?
मेरे मेहमान—
एक दिन?

घेरे

परिचितिया
घेरे—घेरे—घेरे
अँधेरे
गहनतम निविडतम एका त
—आलोक निर्भ्रा त।

जाना-अजाना

मैं मरा नहीं हूँ,
मैं नहीं मरूँगा,
इतना मैं जानता हूँ
पर इस
अकेला कर देने वाले विश्वास को ले कर
मैं क्या करूँगा,
यह मैं नहीं जानता।

क्यों तुम ने वह विश्वास दिया ?
क्यों उस का साझा किया ?
तुम भी
जो मरे नहीं,
मरोगे नहीं,
तुम अब करोगे क्या—
क्या तुम जानते हो ?

गूँजेगी आवाज

पत्थर का घोडा

आन-बान,
मौर-पेंच,
धनुष-बाण,
यानी वीर सूरमा भी कभी
रहा होगा ।
अब तो टूटी समाधि के सामने
साबुत
खडा है
सिर्फ पत्थर का घोडा ।

ओ भीतर के छटपटाते प्राण !
पहचान,
सच-सच बता,
जो कुछ हमें याद है
उस में कितनी है परम्परा
और कितना बस अर्से से पडा
रास्ते का रोडा ?

आज़ादी के बीस बरस

चलो, ठीक है कि आज़ादी में बीस बरस से
तुम्हें कुछ नहीं मिला,
पर तुम्हारे बीस बरस से आज़ादी को
(या तुम से बीस बरस की आज़ादी को)
क्या मिला ?
उन्नीस नंगे शब्द ?
अठारह लचर आंदोलन ?
सत्रह फटीचर कवि ?
सोलह कुजों—हाँ, कह लो, कलाएँ—
(पर चोरी, चापलूसी
सेंध मारना, जुआखोरी,
लल्लोपत्तो और लबारियत
ये सब पारम्परिक कलाएँ थीं
आजादी के बीस बरस क्या, बीस पीढ़ी पहले की ।)
पन्द्रह बारह दस या पांच, चार और तीन
और दो और एक
और फिर इनकलाबी सुन्न
जिस की गिडडुली में बँधे तुम
अपने को सिद्ध, पीर, औलिया जान बैठे हो ।
क्या हर तिकटी ढोने वाला हर डोम
हर जल्लाद का हर पिट्ठू
सिर्फ ढुलाई के मिस
मसीहा हो जाता है ?

ओ मेरे मसीहा,
हाय मेरे मसीहा !

आज़ादी के बीस बरस निकल गये
और तुम्हे कुछ नही मिला—
एक कमबख्त कम से कम पहचाना जा सकने वाला
ज़टियल सलीब भी नही
जब कि इतने-इतने मन्दिरो और रथो से इतनी इतनी
काठ मूर्तियाँ
तोडी-उखाडी जा कर रोज़ बिक रही हैं इतने अच्छे दामो ।

हाय मेरे मसीहा !
बिना सलीब के तुम्हे कोई पहचाने भी तो कैसे
और जो तुम्हे नही पहचाने
उस की आज़ादी क्या ?
पहचान तो तुम्हे, फक्त तुम्हे, हुई—
आज़ादी को भी और अपनी भी !

आज़ादी के बीस बरस से
बीस बरस की आज़ादी से
तुम्हे कुछ नही मिला
मिली सिर्फ आज़ादी ।

दिया हुआ, न पाया हुआ

एक का अनकहा सकल्प था
कि मुझे मार मार कर दुम्बा बना देगा
दूसरे की ऐलानिया डींग थी कि मुझे बना लेगा
मार-मार कर हकीम।
पर मै हूँ कि कुछ न बना—
न हकीम, न दुम्बा,
मार खाते-खाते—करूँ तसलीम—
बन गया एक अजूबा
जिसे और नामो की कमी म
कहते हैं इनसान।

इनसान
नाक, मुंह, आख, कान,
कलजा,
और सब से अजब बात यह कि खापडी के भीतर
भेजा।

अब मैं चाहूँ
(हाँ, एक तो यह कि अब मैं सिफ कराह नही,
चाह भी सकता हूँ)
तो बैठ कर अपनी देह के ददार महला सकता हूँ
या कुढ, या किसी का काम, या धर कर
झँझाड भी सकता हूँ
कुछ तोड-फाड सकता हूँ

या नारे लगा सकता हूँ
या सिनेमाई प्रयाण-गीत गा सकता हूँ
या सोच सकता हूँ
कि जो हुआ वह क्यों हुआ या जो होना चाहिए वह कैसे हो,
मैं चाहूँ तो कुछ कर सकता हूँ
चाहूँ तो इसी आनन्द में मगन हो जा सकता हूँ
कि मेरे आगे एकाएक कितने रास्ते खुल गये हैं—
(मार से क्या मेरे बखिये टाके खुल गये हैं या कि
मेरे पुराने पाप धुल गये हैं ?)
चाहूँ तो बिना कुछ किये
खुशी में मर सकता हूँ।

सब से पहले तो यह बात
कि मैं अवध्य नहीं हूँ।
कोई भी हवा मुझे उखाड़ सकती है,
कोई भी दाव मुझे पछाड़ सकता है,
किसी भी खाई से मैं फिर सकता हूँ
किसी भी जाल में फँस, दलदल में धँस,
कुंज में रम या गली-कूचे में बिलम सकता हूँ,
किसी भी ठोकर से औंधे मुँह गिर सकता हूँ।

अवध्य नहीं हूँ एक दिन गच्चा खाऊँगा
और मारा जाऊँगा,
(नहीं, होगा वह फिर भी बेमौत शहादत का
रुतबा नहीं पाऊँगा)
न मेला जुड़वाऊँगा, न ही बनूँगा किसी स्मारक-समिति के
लिए चन्दा उगाही का वसीला,
या नगर पालिका के लिए नयी चुंगी का हीला।

तो क्या न यहीं से हो शुरूआत ?

दूसरे यह कि मुझ में
जीतने की कामना और संकल्प तो है
पर जीतने का गुर मुझे अभी नहीं मिला।
जीतना कैसे होता है यह मैं नहीं जानता।
और हारना मैं कभी नहीं चाहता, बिलकुल नहीं चाहता,
पर हारना चाहिए कैसे यह मैं जानता हूँ,
हारने का शील तो मुझे बपौती-ददौती में मिला है।

तो हार मानी नहीं जाती
और जीत पानी नहीं आती
क्या न थोड़ी देर जम कर
हो जाय इसी की बात ?

लेकिन क्या बात ?
यही कि रोज मार खाता हूँ, पर मार से कुछ बनता नहीं,
क्योंकि मुझे मार खानी नहीं आती ?
आता क्या है ?
और मुझे कुछ आता नहीं तो किसी का जाता क्या है ?

मैं जहां जो हूँ, उस स्थिति के लिए यह सब 'दिया हुआ' है।
जो करना होगा, उस की यह प्रतिज्ञा है।
और जो दिया हुआ है, उस पर जमना क्या,
थमना क्या ?
जिस चट्टान से कूद पड़े वह चट्टान भी हुई तो अब
उस का सहारा क्या ?
(हालांकि वह चट्टान थी नहीं, धारा में डोलता हुआ
एक थम्भ भर था)

'दिया हुआ' है इसी से तो छूट गया—
चट्टान से नाता टूटा गया।

सौ बात की बात यह कि किसी अनजाने सागर के ऊपर
अधर में हूँ
और यह बात भी रूपक है
और मुझे शक है कि
कहूँगा खरी, रूखी, सब की पहचान में
आने वाली बेलाग बात,
सौटंच खरी, भले ही कच्ची धात।

यानी तीसरी यह बात
कि न मेरे पैरों के नीचे कोई पक्की भीत है
न मेरे साथ खड़ा कोई पक्का मीत है,
कि मैं एक दिन मरूँगा, या मारा जाऊँगा—
कि नन्ही-सी जान हूँ,
कि मैं बहुत कम जानता हूँ और बहुत कुछ
बेवजह मानता हूँ,
सिवा इस के कि यही नहीं मान पाता
कि मुझे कुछ नहीं आता,
कि ईश्वर पुत्र हूँ, पर बड़े बाप का बेटा होने का
न लोभ करता हूँ न लाभ उठा सकता हूँ
कि मानव-पुत्र हूँ, पर प्रजातन्त्र में इस दावे पर
हर दूसरा मानव पुत्र हँसेगा कि क्या बकता हूँ!—
उफ! कितने हैं कि सब समझते हैं
इस लिए किसी का कुछ समझते नहीं।—
मैं वध्य हूँ, अकेला हूँ, बे सहारा हूँ
इनसान हूँ।

यानी जहाँ से चलोगे वहीं आ अटकोगे।

क्योंकि मैं उसे जानता हूँ

जो चक्कर खोदोगे उसी के भीतर खुद भटकोगे।
बचाव के लिए जो जो दीवार उठाओगे उसी पर
सिर पटकोगे।
मैं, तुम, यह, वह, हम सब, सारा जहान
थैली का हर चट्टा, हर बट्टा—हर इनसान।

लेकिन यह सभी कुछ तो 'दिया हुआ' है
पहले से तय किया हुआ है
इसे दुहराना क्या, और इसी का रोना है
तो गाना क्या?

भाई मेरे, हमदम, मेरे हकीम, या निहायत हलीम मेरे गधे—
ईश्वर-पुत्र, मानव-पुत्र,
आओ, अगर यह तुम से सधे
तो इस 'दिये हुए' के सिर पर चढ़ कर ही
अपना नारा करेंगे
जो अभी 'पाया हुआ' नहीं है
कि हम करेंगे या नहीं
करेंगे और मरेंगे
जाते-जाते भी मार खाते खाते भी
कर गुज़रेंगे
करेंगे क्योंकि मरेंगे।

अह राष्ट्री सगमनी जनानाम्

सवेरे आये बाम्हन
जो जैसे ही जागे कि नहाये
नहाते ही भूख से कुनमुनाये
भूख लगते ही सब को देने लगे
दान और श्रद्धा का उपदेश।
जो अघा कर खा कर घर आ कर (या लाये जा कर)
चैन से लेंगे डकार।
नही, जो डकार भी नही लेंगे।
(वामन ने तीन डग मे त्रिलोक नाप लिया था,
ऊँचे-पूरे बाम्हन को एक ही डकार से
मच गया क्हो ब्रह्माण्ड मे हाहाकार ?)

दोपहरे आये जाट
जिन के मचलते ही खुदा का ले जावे चोर।
(क्या इसी तरह राज्य मे निभती है धर्म निरपेक्षता ?)
खुदा तो गया, चोर उसे ले गये।
बाकी रह हम—सीनाजोर।

सेपहर पधारे कायस्थ
राज्य की काया म वरमा से धसे हुए
हर मामला फँसाने के काम म बेतरह फँसे हुए।
कायथ जो भला तो किसी का करेंगे कैसे,
पर बुरा नही करेंगे, इस के मिलेंगे कितने पैसे ?

गाँव म आये गोरे और अहीर।
कोई अंगों म लाज [illegible] हुए [illegible],
कोई लाठी म पुड़िया [illegible],
कोई होता [illegible] और [illegible] म [illegible]
कोई जो [illegible] म [illegible] जिलाता
        [illegible] का [illegible] लगाता है,
कोई जिस [illegible] पर [illegible] जाता है,
कोई जिस [illegible] पीता आता है।
अपने-अपने काम का अपना अपना तरीका होता है।
राज म रहा, [illegible] म [illegible] म [illegible]
                [illegible] होता है।

मौलाना राज़ म थे आये नहीं।
सरदारजी लेन म थे दिखाई न गये नहीं।
मसीही आये तो, पर कोई क्या
      जब हिन्दी हो ना, पढ़ाये नहीं ?

रात म भी कोई आये, चुप अँधेरे म
कौन, यह पता नहीं गये।
पूछने पर कुछ लजा या सकपका गये
मानो जान लूँगा तो—
तो न जाने क्या ठान लूँगा—
उन्हें कुछ भी मान लूँगा—चोर, दुश्मन, आवारे,
बनजारे, घसियारे—
संक्षेप म—स्कूल म मुँह न दिखा सकने वाले बेचारे।
सहमे हुए सब कि उन की जान लूँ न लूँ
इनसानियत ज़रूर नकार दूँगा।

यों सब आ गये। मेला जुट गया।
यही म नहीं जान पाया कि इस पचमेल भीड़ म

वह एक समाज कहा छूट गया ?
और जिस मे पहचानना था देश का चेहरा
वह आईना कहा लुट गया ?

जाट रे जाट
तेरे सिर पर खाट
परजात तर की।
खैर, यह बोझा तो जैसे-तैसे ढो लिया जायेगा—
कभी खाट ऊपर तो कभी जाट ऊपर,
यों बोझा न मान, उसे बेचने से पहले
उस पर थोडा सो लिया जायेगा।
(बाद म तो घोडा बेच कर सोते है।
पर वह नसीबा इस जन नाम गधे को मिला कब !)

देस रे देस
तेरे सिर पर कोल्हू।
इस का भार तू कैसे ढोयेगा
जिसे पेरेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री,
मौलवी, कायथ, सनोढ़ी, जाटव, सरदार, भुमिहार, अहीर
और वे सारे घेरे के बाहर के बेचारे
जो नही पहचानते अपनी तकदीर
तू किस किस को रोयेगा ?
कब बनेगा तो राष्ट्र
कब तू अपनी नियति को पकड पा कर
तकिया लगा कर सोयेगा ?

दास-व्यापारी

हम आये हैं
दूर के व्यापारी
माल बेचने के लिए लाये हैं
माल जीवित, गन्धित, स्पन्दित
छटपटाती शिखाएँ रूप की
तृषा की
ईर्षा की, वासना की, हँसी की, हिंसा की
और एक शब्दातीत दर्द की, घृणा की
मानवता के चरम अपमान की।
चरम जिजीविषा की।

माल किन्ही की माताएँ, बहुएँ, बेटियें बहन
किन्ही पीछे छुट गयी की, लुट गया की,
जो बिकेंगी, क्या कि बेची जाने को तो लायी गयी ह
यहाँ की हो कर रहने,
यही सहने
अपना हो जाना किन्ही और की माताए, बहुएँ,
बेटियें, बहनें।
जो गौंदी गयी, रौंदी जायेंगी
और यो मरेंगी नही, टिकगी।

हमारा तो व्यापार है
घर हमारा सागर पार है।
आप का माल हमारा मोल
फिर आप का ससार है
हमारा तो बेडा तैयार है।

हम फिर आयेंगे
पर इन्हे नही पहचानगे,
नया माल लायेंगे, नया सोना उगाहेंगे ।
और आप भी ऐसा ही चाहेंगे
आप भी तो पिछला इतिहास नही मानेंगे ।

दो ही तो सच्चाइया हैं
एक ठोस, पार्थिव, शरीरी—मासल रूप की,
एक द्रव, वायवा, आत्मिक—वासना की धधक की ।
बाकी आगे मृपा की, आत्म सम्मोहन की
असख्य खाइया हैं ।

इतिहास ! इधर इति, उधर हास !
फिर क्यो उसे ले कर इतना त्रास ?
क्या दास ही बिकते है,
इतिहास नही बिकता ?
बोली लगाइये–
माल ले जाइये
दाम चुकाइये
हम चलता कीजिए
फिर रगरलिया मनाइये
पीढिया पैदा कीजिए
और पीढिया का इतिहास रचवाइये !

हम फिर आयेंगे
हमारा व्यापार है।
आप तो मालिक है
आप पर हमारा दारोमदार है।

उन्हो ने घर बनाये

उन्हा ने
घर बनाये
और आगे बढ गये
जहाँ व
और घर बनायेंगे।
हम ने
वे घर बसाये
और उन्ही मे जम गये
वही नस्ल बढायगे
और मर जायेंगे

इस से आगे
कहानी किधर चलेगी ?
खँडहरा पर क्या वे झडे फहरायगे
या कुदाल चलायेंगे,
या मिट्टी पर हमी प्रेत बन मँडरायेंगे
जब कि वे उस का गारा सान
साचा म नयी इटें जमायेंगे ?

एक बिन्दु तक
कहानी हम बनाते हैं
जिस से आगे
कहानी हम बनाती है
उस बिन्दु की सही पहचान
क्या हम आती है ?

क्योंकि मैं

क्योंकि मैं
यह नहीं कह सकता
कि मुझे
उस आदमी से कुछ नहीं है
जिस की आंखों के आगे
उस की लम्बी भूख से बढ़ी हुई तिल्ली
एक गहरी मटमैली पीली झिल्ली-सी छा गयी है,
और जिसे इस लिए चांदनी से कुछ नहीं है,
इस लिए
मैं नहीं कह सकता
कि मुझे चांदनी से कुछ नहीं है।

क्योंकि मैं,
उसे जानता हूँ
जिस ने पेड़ के पत्ते खाये हैं,
और जो उस की जड़ की लकड़ी भी खा सकता है
क्योंकि उसे जीवन की प्यास है,
क्योंकि वह मुझे प्यारा है
इस लिए मैं पेड़ की जड़ को या लकड़ी को
अनदेखा नहीं करता
बल्कि पत्ती को
प्यार भी करता हूँ और करूँगा।

क्योंकि जिस ने कोड़ा खाया है
वह मेरा भाई है

जनपथ × राजपथ

राष्ट्रीय राजमाग के बीचो-बीच बैठ
पछाहो भैंस
जुगाली कर रही है
तेज़ दौड़ती मोटरें, लारिया,
पास आते सकपका जाती है,
भैंस की आखो की स्थिर चितवन के आगे
मानो इजनो की बोलती बन्द हो जाती है।

भैंस राष्ट्रीय पशु नही है।

राष्ट्रीय राजमाग, प्रादेशिक पशु
योजना आयोग वाले करें तो क्या करें?
बिचारे उगाते हैं
आयातित रासायनिक खाद से
अन्तर्राष्ट्रीय करमकल्ले।

तो क्या

रात म
शहर की सूनी मडको पर
अनमने भटको—
तो क्या ?

किसी भी आते-जाते
भाव की या किसी याद की ओट सिमटे
चेहरे पर अटको—
तो क्या ?

किसी को सिटकारी दो,
किसी को दिखा कर
आह भरो, मटको,
यानी समाज की, समाज की
दिनौंधी आख सिपाही की
आख म कक्ड-काटे-सा खटको—
तो क्या ?

यों बार-बार बेनतीजा
कभी गम, कभी सद,
हर सूरत बेपानी,
शीशे-स चटको—
तो क्या ?

तो क्या ?
इस सब से क्या ?
लौट कर उसी द्वार
जहा से आत्म निर्वासित

निकले थे, कब से
करते खुद अपना ही तिरस्कार,
उसी घिसी देहरी पर
फिर सिर पटको—
तो क्या ?

हथौडा अभी रहने दो

हथौडा अभी रहने दो
अभी तो हन भी हम ने नही बनाया।
धरा की अन्ध कन्दराओ मे से
अभी तो कच्चा धातु भी हम ने नही पाया।

और फिर वह ज्वाला कहा जली है
जिस मे लोहा तपाया-गलाया जायेगा—
जिस मे मैल जलाया जायेगा ?

आग, आग, सब से पहले आग !
उसी मे मे बीनी जायेंगी अस्थिया
धातु जा जलाया और बुझाया जायेगा
बल्कि जिस से ही हन बनाया जायेगा—
जिस का ही तो वह हथौडा होगा
जिस की ही मार हथियार को
सही रूप देगी, तीखी धार देगी।

हथौडा अभी रहने दो
आओ, हमारे साथ वह आग,जलाओ
जिस मे से हम फिर अपनी अस्थिया बीन कर लायेंगे,
तभी हम वह अस्त्र बना पायेंगे
जिस के सहारे
हम अपना स्वत्व—बल्कि अपने को पायेंगे।

आग—आग—आग दहने दो
हथौडा अभी रहने दो।

भूत

तुम्हें
अपनी घनी हवेली म
भूता का डर सता रहा है।

मुझे
अपने झोपडे म
यह डर खा रहा है
कि मै कब भूत हो जाऊँगा।

केले का पेड

उधर से आये सेठ जी
इधर से सत्यामी,
एक ने कही एक ने मानी—
(दोनो ठहरे ज्ञानी)
दोनो ने पहचानी
सच्ची सीख, पुरानी
दोनो के काम की,
दानो की मनचीती—
जै सियाराम की !
सीख सच्ची, सनातन,
सौटच सत्यानामी ।

कि
मानुस हो तो ऐसा
जैसा केले का पेड
जिस का सब कुछ काम आ जाये ।
(मुख्यतया खाने के !)
फल खाओ, फूल खाओ,
घौद खाओ, मोचा खाओ,
डण्ठल खाओ, जड खाओ
पत्ते—पत्ते का पत्तल परोसो
जिस पर पकवान सजाओ
(या पत्ते भी डागर तो खायेंगे—
गो माता की जै हो, जै हो !)

यों, मानो बात तै हो
इधर गये सेठ, उधर गये सन्यासी।
रह गया बिचारा भारतवासी।

ओ केले के पेड़, क्यों नहीं भगवान् ने तुझे रीढ़ दी
कि कभी तो तू अपने भी काम आता—
चाहे तुझे कोई न भी खाता—
न सेठ, न सन्यासी, न डांगर-पशु—
चाहे तुझे बाँध कर तुझ पर न भी भँसाता
हर असमय मृत आशा शिशु ?
तू एक बार तन कर खड़ा तो होता
मेरे लुजलुज भारतवासी ।[1]

---

१ पंजाबी 'बुझारत'
हड्ड ठुस्स-ठुस्स
पत्त फुस्स-फुस्स
फुल्ल लोग्गा-मोग्गा
फल खाणे जोग्गा।
—उत्तर केले का पेड़

/

देश की कहानी दादी की जबानी

पहले यह देश बडा सुन्दर था।
हर जगह मनोरम थी।

एक-एक सु दर स्थल चुन कर
हि दुओ ने तीथ बनाये
जहा घनी बसाई हुई
गली-गली, नाके-नुक्कड
ग दगी फैला दी।

फिर और एक एक सुन्दर जगह खोज
मुसल्माना ने मजार बनाये
बसे शहर उजाड
जिधर देखो खँडहरो की कतार लगा दी।

फिर और एक-एक सुन्दर जगह छीन
अँगरेजो ने छावनिया डाल ली
हिमालय की, बस, पूजा होती रही,
पवती सब देसवालिये हो गये।

अब धम निरपेक्ष, जाति निरपेक्ष
भारतीय लोकतन्त्र हुआ है
अब बची सुन्दर जगहो को
स्मारक सग्रहालय बनाया जा रहा है।

पहले विदेशी के लिए हर सुन्दर जगह
'आदिम संस्कृति की क्रीडाभूमि' थी,
अब स्वदेशी के लिए हर सुन्दर जगह
'नयी संस्कृति का यादी अजायबघर' है ।

पहले हर जगह मनोरम थी
यह देश बड़ा सुन्दर था
अब हर जगह किसी की यादी है
अब भी यह देश बड़ा सुन्दर है ।

उँगलियाँ बुनती हैं

उँगलियाँ बुनती हैं लगातार
रग बिरगे ऊनो से हाथ, पैर,
छातिया, पेट
दौडते हुए घुटने,
मटकते हुए कूल्हे
उँगलिया बुनती हैं
काल डोरे से चकत्ता दिल का—
सफेद, सफेद धागे से
आखो के सूने पपोटे।

उँगलिया बुनती है
लगातार
बेलाग
भूखें, प्यास,
हरकत, कारवाइया,
हगामे,
नामकरण, शादिया-सगाइया
आयोजन,
उत्सव-समारोह, खटराग
कारनामे।

उँगलिया बुनती हैं
सिर्फ घुटे हुए दिल,
सिर्फ मरी हुई आखें।
उँगलिया बुनती हैं

क्योकि म उसे जानता हूँ

गूँजेगी आवाज़

गूँजेगी आवाज
पर सुनाई नही देगी।
हाथ उठेंगे, टटोलेंगे,
पर पकड़ाई नही पावेंगे।
लहकेगी आग, आग, आग
पर दिखाई नही देगी।
जल जायेंगे नगर समाज सरकारें,
अरमान, कृतित्व, आकांक्षाएँ
नही मरेगा विश्वास
छूट जायेंगी रासें, पतवारें, कुंजियां, हत्थे,
नही निकलेगी गले की फांस।
टूट जायेगी मानवता
नही चुकेगी कमबख्त मानव की सांस—
धौंकनी जो सुलगाती रहेगी
दबी हुई चिनगारियां।
घुटन और धुएँ को
कँपायेगी लहर
गूँजेगी आवाज
पर सुनाई नही देगी

लौटते हे जो वे प्रजापति है

झुलसते आकाश के
बादलो को जला कर
शून्य मे भी रिक्तता का
एक जमुहाता विवर बना कर
जब वे चले जायेंगे,

तब अन्त मे एक दिन
रासायनिक सापिनें पछाड खा कर
धरती पर गिरेगी,
विषैले धुएँ की गुंजलके खुल जायेंगो,
धैर्यवान् लहरो मे
उन के अहकारो के
विषव्रण घुल जायेंगे,

तब वे आयेंगे
वे दूसरे '
दुर्दम
चूहो की तरह नही
तिल्चट्टो की तरह नही
घर लौटते विजेता मनुष्यो की तरह दुरन्त

वे जिन्हो ने
धरती मे विश्वास नही खोया,
जिन्हो ने जीवन म आस्था नही खायी,
जिन के घर
उन पहलो ने नष्ट किये,
महासागर मे डुबोये,

पर जिन्हों ने अपनी जिजीविषा
घृणा के परनाले म नहा डुबायी
उन की डागियाँ
फिर इन तरगा पर तिरेंगी।

अगाध असीम महासागर म
झुके हुए ताला की आट में
प्रवाल-कीटा का गढा हुआ
एक छेदा भरा छल्ला
वसुधरा की नाभि
आद्य मातका की योनि।

ऐसी ही उपेक्षा मे तो
वार वार, वार-वार, वार-वार
अजर अजस्र शृखला म
जनमेगा पनपेगा
ऐल मनु अजित, अघप,
अविघीत, आत्मतन्त्र।

लौटते हैं दीन नि स्व नगे जा
वे मानव पितर प्रजापति ह।
उन्हे कभी कोई विष
डँस नही सकता।

प्रार्थना का एक प्रकार

देहरी पर

मंदिर तुम्हारा है
देवता हैं किस के ?
प्रणति तुम्हारी है
फूल झरे किस के ?

नहीं, नहीं, मैं झरा, मैं झुका,
मैं ही तो मन्दिर हूँ,
ओ देवता ! तुम्हारा।

वहाँ, भीतर, पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहा देहरी के बाहर ही
सारा रीत गया।

कहाँ से उठे प्यार की बात

कहाँ से उठे प्यार की बात
जब क़दम-क़दम पर कोई
        असमजस म डाल दे ?
जैसे शहर का अस्त क्षितिज रेखा पर रात
धुधलके के सागर स
        एक तारा उछाल दे ?

आता है यही   उसी तारे-सा कटकित
तर्कातीत, नि सशय
अकारण, निराधार पर निर्भय
एक शब्द रहित चकित
आशीर्वाद ।

कच्चा अनार, बच्चा बुलबुल

अनार कच्चा था
पर बुलबुल भी शायद बच्चा था
रोज़ फिर फिर आता,
टुक्! टुक्! दो चार चोच मार जाता।

और एक दिन मेरे तकते-तकते
चोट खा कर अनार डाल से टूट गया।
अपनी ही साच पर सकते मे आ कर
मै पूछ बैठा क्या वह जानता है कि वह गिर गया?

कच्चा अनार गिर कर फूट गया।
दाने बिखर गये।
छाल पर डाल से दो एक और मुरझे पँखुडे भी झर गये।

लारस कहता है कि हा, मुझे दिल का टूटना ही पसन्द है
कि उस की फाक मे भोर के विविध रग झाँक सके
मैं नही जानता।
रग झाकेंगे। तो क्या?
किस के लिए?
इतना पहचानता हूँ
कि जब तक गिर कर
फूट कर
बिखरेगा नही

क्योंकि म उसे जानता हूँ

तब तक भोर-रगो का खरा सौन्दय
निखरेगा नही ।
किस के लिए ?
किसी के लिए नही ।
ज्यो-ज्यो समझता हूँ,
तेरे साथ, ओ बच्चा-बुलबुल,
एक नये सम्बन्ध म
बझता हूँ ।

दिति-कन्या को

थोडी देर
खुली-खुली
आँखें मिली
विजलियो से दौडे संकेत
सदियो की, सस्कारो की
नीवें हिली
अभिप्रेत हुए प्रेत ।
न देहे हिली डुली,
न कोई वोला,
गुँथ गयी दो दुरन्त
जिजीविषाएँ
फिर पलटी तुरन्त
सहजता पर
हम लौट आये ।

कौंध मे
मैं ने पहचाना
मेरे भीतर जो असुर है
रुँधा, छटपटाता
प्रवल, पर भोला ।

क्या ठीक उसी क्षण
तुम ने भी
ओ दिति-कन्या

अपने मन की
धधकती गुहा का
द्वार खोला ?
अपने को माना ?

क्योंकि मैं उस आत्मा ?

कहीं राह चलते-चलते

कहीं राह चलते चलते
चुक जायेगा
दिन। सहसा झुक आयेगी साझ घनेरी।
घुल जायेंगे रूप धुंधलके मे
मृदु पीडाएँ—क्षण भर—रुक जायेंगी, करती
अपने होने पर सन्देह।
एक स्तब्धता से मैं जाऊँगा घिर।
और साँझ फिर
मेरी पहले की पहचानी होगी
पल भर उस के भुजा-बन्ध मे सिहर
चूम लूँगा मैं उसे उनाती ओठो पर भरपूर।

कही राह चलते चलते
—है मुझे ज्ञात—
दिन चुक जायेगा।

तुम्हें क्या

तुम्हे क्या
अगर मै दे देता हूँ अपना यह गीत
उस बाघिन को
जो हर रात दबे पाव आती है
आस पास फेरा लगाती है
और मुझे सोते सूँघ जाती है
वह नीद, जिस म मैं देखता हूँ सपने
जिन म ही उभरते ह सब अपने
छन्द तुक ताल बिम्ब
मौतो की भट्ठियो म तपाये हुए,
त्रास की नदिया के बहाव म बुझाये हुए,
मिलते हैं मुझे शब्द आग म नहाये हुए !

और तो और
यही मैं कैसे मानूँ
कि तुम्ही हो वधू, राजकुमारी,
अगर पहले यह न पहचानूँ
कि वही बाघिन है मेरी असली मा ?
कि मैं उसी का बच्चा हूँ ?
अनाथ, बनैला
देता हूँ उसे
वासना म डूबे, अपने लहू म सने,
सारे बचकाने मोह और भ्रम अपने—

प्रार्थना का एक प्रकार

कितने पक्षियो की मिली-जुली चहचहाट म से
अलग गूज जाती हुई एक पुकार
मुखडो मुखौटो की कितनी घनी भीडो म
सहसा उभर आता एक अलग चेहरा
रूपो, वासनाओ, उमगो, भावो, बेवसियो का
उमडता एक ज्वार
जिस मे नियरती है एक माग, एक नाम—
क्या यह भी है
प्रार्थना का एक प्रकार ?

चितवन

क्या दिया था तुम्हारी एक चितवन ने उस एक रात
जो फिर इतनी रातों ने मुझे सही-सही समझाया नहीं ?
क्या वह गयी थी बहकी अलक की ओट तुम्हारी मुस्कान एक बात
जिस का अर्थ फिर किसी प्रात की किसी भी खुली हँसी ने
बताया नहीं ?

इधर मैं नि स्व हुआ, पर अभी चुभन यह सालती है
कि मैंने तुम्हें कुछ दिया नहीं,
बार-बार हम मिले, हँसे, हम ने बातें की,
फिर भी यह सच है कि हम ने कुछ किया नहीं।
उधर तुम से अजस्र जो मिला, सब बटोरता रहा,
पर इसी लुब्ध भाव से कि मैंने कुछ पाया नहीं।

दुहरा दो, दुहरा दो, तुम्हीं बता दो
उस चितवन ने क्या कहा था
जिस में तुम ही तुम थे, ससार भी डूब गया था
और मैं भी नहीं रहा था

आश्वस्ति

थोड़ी और दूर
आकृतियाँ धुँधली हो कर सब समान हो जावेंगी
थोड़ा और
सभी रेखाएँ घुल कर परिदृश्य एक हो जावेंगी।

कुछ दिन जाने दो बीत
दुःख सब धारों में बँट-बँट कर
धरती में रम जायेगा।
फिर थोड़े दिन और
दुःख ही अनपहचानी औषधि बन अँसुआयेगा।
और फिर
यह सब का सब शृंखलित
एक लम्बा सपना बन जायेगा।

वह सपना-मीठा होगा।
उस में इन दर्दों की यादें भी
एक अनोखा सुख देंगी।
दुख-सुख सब मिल कर रस बन जावेगा।

तब-हाँ, तब, उस रस में—
या कह लो सुख में, दुःख में, सपने में,
उस मिट्टी में—उस धारा में—
हम फिर अपने होंगे।

फिर भोर एकाएक

'भई आज हम बहुत उदास ह ।'

'क्यो ? भूल गये या क्या सूख गये
आनन्द के वे सारे सोते
जो तुम्हारे इतनी पास हैं?

'हैं तो पर दीखें कैसे, जब तक
आखो मे तारा रज का अजन न हो ?'

'आखें तुम्हारी तो स्वय तारक है—
उन के बारे मे ऐसा मत कहो !'

'सोते हैं तो सोते क्यो हैं ? उमडते क्या नही
कि हम अजुरी भर सकें ?
चलो, न भी बुझे प्यास न सही
ओठ तो तर कर सकें ?'

'भई, एक बार धीरज से देखो तो
उस से दीठ धुल जायेगी ।
सोता है सोया नही झरना है झरता है
देखो भर अभी एक फुहार आयगी—
बुझ ही नही, भूल भी जायेगी प्यास—'

'हम नही, हम नही हम हैं हम रहेंगे उदास ।

या बात (कुछ कही, कुछ अनकही)
रात बडी देर तक चलती रही,
चादनी अलक्षित उपेक्षित ढलती रही।
उदासी भी, मानो पासे की तरह खेली जाती रही—
कभी इधर, कभी उधर हम तुम दोनो को
एक महीन जाल मे उलझाती रही
जिस से हम परस्पर एक-दूसरे को छुडाते रहे
हारते रहे पर जीत का आभास हर बार पाते रहे।

फिर भोर एकाएक ठगे-से हम जागे—
तुम अपने हम अपने घर भागे।

औपन्यासिक

मैं ने कहा : अपनी मनःस्थिति
मैं बता नहीं सकता। पर अगर
अपने को उपन्यास का चरित्र बताता, तो इस समय अपने को
एक शराबखाने में दिखाता, अकेले बैठ कर
पीते हुए—इस कोशिश में कि सोचने की ताकत
किसी तरह जड़ हो जाये।
कौन या कब अकेले बैठ कर शराब पीता है?
जो या जब अपने को अच्छा नहीं लगता—अपने को
सह नहीं सकता।

उस ने कहा : हुँ, कोई बात है भला? शराबखाना भी
(यह नहीं कि मुझे इस का कोई तजरबा है पर)
कोई बैठने की जगह होगी—वह भी अकेले?
मैं वैसे में अपने पात्र को
नदी किनारे बैठाती—अकेले उदास बैठ कर कुढ़ने के लिए।

मैं ने कहा : शराबखाना
न सही बैठने लायक जगह। पर अपने शहर में
ऐसा नदी का किनारा कहाँ मिलेगा जो
बैठने लायक हो—उदासी में अकेले
बैठ कर अपने पर कुढ़ने लायक?

उस ने कहा : अब मैं क्या करूँ अगर अपनी नदी का
ऐसा हाल हो गया है? पर कहीं तो ऐसी नदी
जरूर होगी?

मैंने कहा सो तो है—यानी होगी। तो मैं
अपने उपन्यास का शराबखाना
क्या तुम्हारे उपन्यास की नदी के किनारे
नही ले जा सकता ?

उस ने कहा हूँ ! वह कैसे हो सकता है ?

मैंने कहा ऐसा पूछती हो, तो तुम उपन्यासकार भी
कैसे बन सकती हो ?

उस ने कहा न सही—हम नही बनते उपन्यासकार।
पर वैसी नदी होगी
तो तुम्हारे शराबखाने की जरूरत क्या होगी, और उसे
नदी के किनारे तुम ले जा कर ही क्या करोगे ?

मैंने ज़िद कर के कहा जरूर ले जाऊँगा ! अब देखो, मैं
उपन्यास ही लिखता हू और उस म
नदी किनारे शराबखाना बनाता हू !

उस ने भी ज़िद कर के कहा वह
बनेगा ही नही ! और बन भी गया तो वहा तुम अकेले बैठ कर
शराब नही पी सकोगे !

मैं ने कहा क्या नही ? शराबखाने म अकले
शराब पीने पर मनाही होगी ?

उस ने कहा मेरी नदी के किनार तुम को
अकेले बैठने कौन देगा, यह भी सोचा है ?

तब मैं ने कहा नदी के किनारे तुम मुझे अकेला
नही होने दोगी, तो शराब पीना ही कोई

क्या चाहेगा, यह भी कभी सोचा है ?

इस पर हम दोनो हँस पडे । वह
उपन्यास वाली नदी और कही हो न हो,
इस हँसी मे सदा बहती है,
और वहा शराबखाने की कोई जरूरत नही है ।

वही जाती है

ठठाती हँसियों के दौर—मैं ने जाने हैं
कहकहे—मैं ने सहे हैं।

पर सार्वजनिक हँसियों के बीच
अकेली अलक्षित चुप्पियाँ
और सब की चुप के बीच
औचक अकेली सुनहली मुस्कानें
ये कुछ और हैं

न जानी जाती है, न सही जाती है
न मिल जायें तो वही जाती है
जैसे असाढ की पहली बरसात,
शरद के नील पर बादल की रुई का पहला उजला गाला,
या उस गाले में लिपटा चमक का नगीना,
उस में बसी मालती की गन्ध।
कौन, कब, कैसे, भला बताता है इन की बात ?
मुँद जाती हैं आँखें, रुँधता है गला,
सिहरता है गात
अनुभूति ही मानो भीतर से भीतर को
बही जाती है, बही जाती है, बही जाती है

साँझ-सवेरे

रोज सवेरे मै थोडा सा अतीत म जी लेता हूँ—
क्यो कि रोज शाम को मै थाडा-सा भविष्य म मर जाता हूँ।

देना-पाना

दो ? हाँ, दो,
बड़ा सुख है देना ।
देने मे
अस्ति का भवन नीव तक हिल जायेगा—
पर गिरेगा नही,
और फिर बोध यह लायेगा
कि देना नही है नि स्व होना
और वह बोध
तुम्हे फिर स्वत न्त्रतर बनायेगा ।

लो ? हा, लो ।
सौभाग्य है पाना!
उस को आधी से रोम रोम
एक नयी सिहरन से भर जायेगा ।
पाने मे जोना भी कुछ खोना
या नि स्व होना तो नही
पर है कही ऊना हो जाना
पाना   अस्मिता का टूट जाना ।
वह उन्मोचन—यह सोच लो—
वह क्या झिल पायेगा ?

अस्ति की नियति

फूल से
पँखुड़ी तो झरेगी ही
पर यह क्यों कहो
कि याद तो मरेगी ही ?

फूल का बने रहना भी याद है
जिस में एक नयी दुनिया आबाद है
पँखुड़ियों की, फूलों की, बीजों की।
यह एक दूसरी पहचान है चीज़ों की।

न सही फूल, या पँखुड़ी,
या यादें, या हम
व्यक्ति की अस्ति की नियति तो
अपने को पूरा करेगी ही !

सपना

जागता हूँ
तो जानता हूँ
कि मेरे पास एक सपना है
सोता हूँ
तो नीद मे
वही एक सपना
कभी नही आता।
तुम्हे
मैं किसी तरह छोड नही सकता
यों अपने से
मुक्ति नही पाता।

अस्ति की नियति

फूल से
पँखुड़ी तो झरेगी ही
पर यह क्यों कहो
कि याद तो मरेगी ही ?

फूल का बने रहना भी याद है
जिस में एक नयी दुनिया आबाद है
पँखुड़ियों की, फूलों की, बीजों की।
यह एक दूसरी पहचान है चीज़ों की।

न सही फूल, या पँखुड़ी,
या यादें, या हम
व्यक्ति की अस्ति की नियति तो
अपने को पूरा करेगी ही।

सपना

जागता हूँ
तो जानता हूँ
कि मेरे पास एक सपना है
सोता हूँ
तो नींद मे
वही एक सपना
कभी नही आता।
तुम्हें
मैं किसी तरह छोड नही सकता
यों अपने से
मुक्ति नही पाता।

रात मे

तुम्हारी आंखो से
सपना देखा । वहाँ ।
अपनी आंखो से
जाग गये । यहाँ ।

झील । पहाडो पर मंदिर
कुहरे म उभरा हुआ ।
धूप के फूल जहाँ-तहाँ
जैसे गेहूँ म पोस्ते ।
और वह एक (किरण) कली
कलश को छूती हुई चलती है ।

जागरण ।
एक चौकी हुई झपकी ।
एक आह
टूटी हुई
सद ।
एक सहमा हुआ सन्नाटा
और दद
और दद
और दद

धीरे—उफ कितनी धीरे
यह रात ढलती है

मैत्री

मैं ने तब पूछा था
और रसो मे, क्या,
मैत्री भाव का भी कोई रस है ?

और आज तुम ने कहा
कितना उदास है
यह बरसो बाद मिलना !
प्यार तो हमारा ज्यो का त्यो है,
पर क्या इस नये दद का भी कोई नाम है ?

वेध्य

पहले
मैं तुम्हे बताऊँगा अपनी देह का प्रत्येक मर्मस्थल
फिर
मै अपने दहन की आग पर तपा कर
तैयार करूँगा एक धार-दार चमकीली कटार
जो मैं तुम्हे दूँगा ।
फिर मैं
अपने दक्ष हाथो से तुम्हे दिखाऊँगा
करना वह कुशल, निष्कम्प, अचूक वार
जो मर्म को बेध जाय
मुझे आह भरने तो क्या
गिरने का भी अवसर न दे
मैं वह भी न कह पाऊँ
जो कहने की यह भूमिका है—
अवाक् खडा रह जाऊँ
जब तक कोई मुझे
भूमिसात् न कर दे ।

नही तो और क्या है प्यार
सिवा यो
अपनी ही हार का अमोघ दाँव किसी को सिखाने के—
किसी के आगे
चरम रूप से वेध्य हो जाने के ?

पहली बार जब शराब

पहली बार
जब दिन-दोपहर में शराब पी थी
तब हमजोलियों से ठिठोलियाँ करते
सोचा था
कितने खतरनाक होते होंगे वे लोग
जो रात में अकेले बैठ कर पीते होंगे ?

आज
चाँदनी रात में
पहाड़ी काठघर में अकेला बैठा
ठिठुरी उँगलियों में ओस-नम प्याला घुमाते हुए
सोचता हूँ
इस प्याले में
चाँद की छाया है
थोड़ा सी सिहरन
हर चुके फूलों की अनभूली महक
बीते वसन्तों की चिड़ियों की चहक है,
इन को—और इन के साथ अपनी (अब जैसी भी है)
हिम्मत को सराहिए
और कोई हमप्याला भला
अपने को क्या चाहिए ?

पहली बार जब शराब

पहली बार
जब दिन-दोपहर म शराब पी थी
तब हमजोलियो से ठिठोलियाँ करते
सोचा था
कितने खतरनाक होते हागे वे लोग
जो रात मे अकेले बैठ कर पीते होगे ?

आज
चाँदनी रात मे
पहाडी काठघर म अकेला बैठा
ठिठुरी उगलियो म ओस-नम प्याला घुमाते हुए
सोचता हूँ
इस प्याले म
चाँद की छाया है
चीडा की सिहरन
झर चुके फूलो की अनभूली महक
बीते बसन्तो की चिडिया की चहक है,
इन का—और इन के साथ अपनी (अब जैसी भी है)
किस्मत को सराहिए
और कोई हमप्याला भला
अपने को क्या चाहिए ?

देखा है कभी

मैं ने देखी है झील म डोलती हुई
कमल-कलियाँ
जब कि जल-तल पर थिरक उठती हैं
छोटी-छोटी लहरियाँ।
ऐसे ही जाती है वह, हर डग से
थरथराती हुई मेरे जग को
घासो की तरल ओस-बूँदें तक हो कर बेसुध
चूम लेती हैं उस के चपल पैरो की तलिया।

पर तुम ने—नही, तुम ने नही, उस ने !—देखा है कभी
कि कैसे पर्वती बरसात मे
बिजली से बार-बार चौंकायी हुई रात मे
तीखी बौछार की हर गिरती बूँद से भेंटने को
सारे पावस को ही अपने म समेटने को
ललकता है उसी झील का वही जल—
हर बूँद की प्रति-बूँद, आकुल, पागल,
जसे मेरा दिल ? जैसे मेरा दिल

क्या करूँ इतना कुछ है जो छिपाना नही चाहता
पर अभी बताना नही चाहता।

ठीक है, कभी तो कही तो चला जाऊँगा
पर अभी कही जाना नही चाहता, नही चाहता!

कुछ फूल कुछ कलियाँ

डाल पर कुछ फूल थे
कुछ कलिया थी।
फूल
जिसे देने थे दिये
तुष्ट हुआ कि उस ने उन्ह
कबरी मे खोस लिया।
कलिया
कुछ देर मेरे हाथ रही
फिर अगर गुच्छे को मै ने पानी मे रख दिया
तो वह अतर्कित उपेक्षा ही थी
कोई मोह नही।

शाम को लौट कर आ गया।
कबरी के फूल
जिसे दिये थे
उसी के माथे पर सूख गये
जैसे कि मेरा मन
मुरझा गया।
कलिया—उन का ध्यान भी न आया होता
पर वे तो उपेक्षा मे पानी म
खिल आयी हैं।
यहीं की यही।

फूल मन कलियाँ
सब अपने-अपने ढग से